२

साधना का केन्द्र-बिन्दु : अन्तर्मन

"मन को जीतना बड़ा कठिन है। मन पवन जैसा चंचल है।[1] वह दुष्ट घोड़े जैसा दु:साहसिक है।[2] बस, मन के इन स्वरूप बोधक वचनों को ले कर उत्तर-काल में एकान्त दृष्टि से कहा जाने लगा—"मन जैसा अन्य कोई शत्रु नहीं है, अतः मन को मारो, मारो और इतना मारो कि मार-मार कर चकनाचूर कर दो।" परन्तु, मैं कहता हूँ कि यह तो एक तरफ की बात हुई। दूसरी ओर भी देखना चाहिए। यदि दूसरी ओर देखें, तो मन जैसा कोई अन्य मित्र नहीं है। बाहर में, जो कुछ भी दृश्य जगत् है, परिवार है, समाज है, और राष्ट्र है, व्यापार, वैभव और ऐश्वर्य है, वह सब मन से ही पैदा हुआ है। मैं तो यहाँ तक मानता हूँ कि सृष्टि का निर्माता, यदि कोई ब्रह्मा है, तो वह मन ही है। और, वही सृष्टि का परिपालक विष्णु है और वही सृष्टि का संहर्ता महारुद्र है। तथागत बुद्ध ने ठीक ही कहा है—"सब धर्म, सब वृत्तियाँ, और सब संस्कार पहले मन में ही जन्म लेते हैं।"[3] मन सब में मुख्य है, मुख्य ही क्या, सब-कुछ यही है। अतः प्रतिकूल दिशा में गतिशील मन को अनुकूल दिशा में मोड़ लेना ही परमानन्द का द्वार पा लेना है।

मन की माया :

आचार्य शंकर, जो भारतीय चिन्तन-क्षितिज पर ज्योतिर्मय नक्षत्र की तरह आज भी चमक रहे हैं, उन्होंने कहा है—ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है—**"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।"** उक्त सूत्र को यदि मन के लिए कहा जाए, तो यह कहा जा सकता है—**"मनः सत्यं जगद् माया।"** मन ही सत्य है, यह जगत्, यह सृष्टि, उसी मन की माया है। इसलिए जगत् को मन की माया कह सकते हैं।

इन्सान, जब माता के उदर से जन्म ले कर इस पृथ्वी पर आया, तो उसके पास क्या था? धन था? अलंकार थे? वस्त्र-पात्र थे? मकान था? आज जो कुछ दीख रहा है उसके पास, इनमें से कुछ भी था? कुछ भी नहीं। जो था, वह केवल एक छोटा-सा शरीर। वह भी एक नंगा तन। इसके अतिरिक्त, और कुछ भी तो उसके पास नहीं था। फिर यह सब-कुछ कहाँ से आ गया? ये बड़े-बड़े भव्य भवन, ये कल-कारखाने, ये धरती-आकाश की परिक्रमा करने वाले विमान। ये सब कहाँ से आ गए? सभ्यता और संस्कृति का, जो विकास हुआ है, धर्म और दर्शन का, जो गंभीरतम चिन्तन हुआ है, अध्यात्म और विज्ञान का, जो गहनतम मनन हुआ है, वह सब कहाँ से जन्मा? मन की सृष्टि से ही तो! मनुष्य के मन ने मनन किया, चिन्तन किया और इस विशाल सृष्टि का निर्माण हो गया। इसलिए मैंने कहा—"मन ब्रह्म है। मन जैसा दूसरा कोई साथी नहीं, मित्र नहीं और परम शक्ति नहीं।"

यह ठीक है, मन शत्रु भी है, और बहुत बड़ा भयंकर शत्रु है। जब वह गलत सोचना

१. चंचलं हि मनः कृष्ण! ....वायोरिव सुदुष्करम्। —गीता, ६,३४
२. मणो साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई। —उत्तराध्ययन, २३,५८
३. मनो पुब्बंगमा धम्मा, मनोसेट्ठा मनोमया। —धम्मपद, १,१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुरू करता है, तो सृष्टि में प्रलय मचा देता है। निरपराध मनुष्यों के रक्त की नदियाँ बहा देता है और हड्डियों के पहाड़ खड़े कर देता है।

मन ने राम को पैदा किया, तो रावण को भी। धर्म-पुत्र युधिष्ठिर को जन्म दिया, तो दुर्योधन को भी। और, एक-दो नहीं, संसार में लाखों-करोड़ों रावण, दुर्योधन, हिटलर आदि अपने ही विकृत मन से पैदा होते रहे हैं, जिनकी प्रलयंकर हुंकार से सृष्टि कांपती रही है। मानवीय रक्त से धरा नहाती रही है। फिर सोचिए, मन जैसा शत्रु कौन होगा?

मारना या साधना :

मन की इस अपार शक्ति से, अद्भुत माया से, जब आप परिचित हैं, तो सहज ही यह प्रश्न आपके सामने आ जाता है—"इस मन का क्या करें? इससे कैसे निपटें?"

इस संबंध में साधना के क्षेत्र में दो विचार चलते रहे हैं—एक विचार वह है, जो मन को सदा शत्रु के रूप में ही देखता आया है, इसलिए वह मन को मारने की बात कहता है। वह कहता है—"मन हमारा सब से बड़ा शत्रु है, इसे यदि नहीं मारा, तो कुछ भी नहीं होगा।" **'मन मारा तन वश किया'**—यही उनके स्वर हैं, भजन हैं। मन को मारने के लिए उसने अनेक क्रियाएँ भी बताईं। हठयोग आया, आसन-प्राणायाम की क्रियाएँ आईं, मन को मूर्च्छित करने के अनेक कठोर-से-कठोर तरीके निकले। और, वे यहाँ तक पहुँच गये, कि मदिरा, भांग, गांजा, चरस, और धतूरा तक पी कर मन को मूर्च्छित करने के अशोभन प्रयत्न चल पड़े। हठयोगी साधकों ने कहा—"मन पारा है, पारे को मारने से जैसे रसायन बन जाता है, बस इसी तरह मन को मार लो, वह सिद्ध रसायन बन जाएगा।" इस प्रकार मन को मारने की यह एक साधना है, जो आज भी अनेक रूपों में चल रही है।

यहाँ एक बात समझ लेने की है—साधक, साधक होता है, मारक नहीं। मारक का अर्थ होता है—'हत्यारा'। और, साधक का अर्थ होता है—'साधने वाला।' साधक मारने की बात कदापि नहीं सोच सकता। उसकी दृष्टि साधना-प्रधान होती है। प्रत्येक वस्तु को वह साधने का प्रयत्न करता है। इसलिए मन को मारने की जगह, मन को साधने की बात भी आ गई। यह मन को मारने का नहीं, साध लेने का, वश में कर लेने का विचार उत्तम एवं श्रेष्ठ विचार है, सर्व श्रेयस्कर साधना है।

मन : एक बहुमूल्य उपलब्धि :

विचारकों की शिकायत है—"मन बड़ा चंचल है।" किन्तु, मैं पूछता हूँ, यह शिकायत ऐसी ही तो नहीं है—हवा क्यों चलती है? अग्नि क्यों जलती है? पानी क्यों बरसता है? सूर्य क्यों तपता है? इसके विपरीत, हवा स्थिर क्यों नहीं हो जाती? अग्नि ठंडी क्यों नहीं बन जाती? पानी रुक क्यों नहीं जाता? सूर्य शीतलता क्यों नहीं देता? दिल धड़कना—गतिशीलता, क्यों नहीं बन्द कर देता?

इसका समाधान है, प्रत्येक वस्तु का अपना धर्म होता है, स्वभाव होता है। हवा का धर्म चलना है। अग्नि का धर्म जलना है। और, मन का धर्म मनन करना है। मन है, तो मनन है। मनन है, तो मनुष्य है। मन, जब मनन करेगा, तो उसमें गतिशीलता आएगी ही। मन से शिकायत है, तो क्या आप मिट्टी-पत्थर आदि के रूप में तथा कीटादि के रूप में या एकेन्द्रिय आदि बिना मन वाले (असंज्ञी) प्राणी हो जाते, तो अच्छा रहता न? न रहता बांस, न बजती बांसुरी। मन ही नहीं होता, तो उसमें चंचलता भी नहीं आती।

वस्तुतः बात यह है, मन कोई परेशानी और दुविधा की चीज नहीं है। यह तो, एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। महान् पुण्य से प्राप्त होनेवाली दुर्लभ निधि है। श्रमण भगवान् महावीर ने कहा है—"बहुत बड़े पुण्य का जब उदय होता है, तो मन की प्राप्ति होती है।" सम्यक्-दर्शन, किसको प्राप्त होता है—संज्ञी को या असंज्ञी को? जिसके पास मन नहीं है, क्या वह सम्यक्-दृष्टि हो सकता है? नहीं, नहीं। सम्यक्-दृष्टि की श्रेष्ठतम उपलब्धि मन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाले व्यक्ति को ही हो सकती है। यह आप मानते हैं, फिर मन आपके लिए दुविधा की वस्तु क्यों है? उसे ऐसा भूत समझते हैं कि जो जबर्दस्ती आपके पीछे लग गया है। आत्मप्रिय बन्धुओ! यह तो वह देवत्व है, जिसके लिए बड़ी-बड़ी साधनाएँ करनी पड़ती हैं। फिर भी मन को मारने की बात क्यों?

मन की साधना :

एक रात की बात है। रात ज्यों-ज्यों गहरा रही थी, त्यों-त्यों नील गगन में तारे अधिक प्रभास्वर हो रहे थे, चमक रहे थे। शान्त नीरव निशा। श्रावस्ती का अनाथ-पिण्डक जेतवन आराम! तथागत बुद्ध ध्यान-चिन्तन में लीन!

सघन अंधकार को चीरता हुआ एक प्रकाश-पुञ्ज-सा द्युतिमान देवता तथागत का अभिवादन करके चरणों में खड़ा हुआ। उसकी उज्ज्वल नील-प्रभा से सारा जेतवन आलोकित हो उठा। भन्ते, आपने कहा—"मन ही सब विषयों की प्रसव-भूमि है, तृष्णा एवं क्लेश सर्वप्रथम मन में ही उत्पन्न होते हैं, तो क्या साधक, जहाँ-जहाँ से मन को हटा लेता है, वहाँ-वहाँ से दुःख-क्लेश भी हट जाता है? क्या सभी जगह से मन को हटा लेने पर सब दुःख छूट जाते हैं?"[१] —अन्तर की सहज जिज्ञासा से स्फूर्त देवता की वचन-भंगिमा हवा में दूर तक तैरती चली गई।

"आवुस! मन को सभी जगह से हटाने की आवश्यकता नहीं है। चित्त जहाँ-जहाँ पापमय होता है, वहाँ-वहाँ से ही उसे हटाकर अपने वश में करना चाहिए। यही दुःख मुक्ति का मार्ग है।"[२] —तथागत ने मन का सही समाधान प्रस्तुत किया।

घोड़े की लाश पर सवारी :

आप कहते हैं—"मन चंचल है। इस चंचलता से नुकशान होता है, परेशानी होती है। इसलिए मन को मारना चाहिए।" और, फिर मारने के लिए नशे किए जाते हैं, मन को मूर्छित किया जाता है और उसके साथ कठोर-से-कठोर संघर्ष किया जाता है।

मैं सोचता हूँ, यह कितना गलत चिन्तन है। घोड़ा किसी के पास है और वह बहुत चंचल है, हवा से बातें करता है। सवार चढ़ा, कि बस, लुढ़क गया और लगा घोड़े को कोसने, चाबुक मारने कि बड़ा चंचल है, बदमाश है, तो मतलब यह हुआ कि आपको कंबोजी घोड़ा नहीं चाहिए, प्रजापति का घोड़ा (गधा) चाहिए, जिसे कितना ही मारो, कितना ही पीटो, किंतु वह मन्द-मन्थर गति से घिसटता चलता है, गति नहीं पकड़ता। फिर तो आपको तेज घोड़ा नहीं, ठण्डा घोड़ा चाहिए, शीतला माता का घोड़ा चाहिए। घोड़े का अर्थ ही है—चंचल। ठण्डा घोड़ा तो घोड़ा नहीं, घोड़े की लाश होगी। इसी प्रकार मन को मूर्छित करके उस पर सवार होना, मन पर नहीं, बल्कि मन की लाश पर सवार होना है।

अभिप्राय यह है कि घोड़े की शिकायत करने वाले को वास्तव में अपने आप से शिकायत होनी चाहिए कि उसे घोड़े पर चढ़ना नहीं आया। अभी वह सवार सधा नहीं है, उसे अपने को साधना चाहिए। यात्रा के लिए घोड़ा और सवार, दोनों सधे हुए होने चाहिएँ। सधा हुआ सवार सधे हुए घोड़े की तेज-गति की कभी शिकायत नहीं करता, बल्कि वह तो उसका आनन्द ही लेता है। सधा हुआ सवार हवा से बातें करते चंचल घोड़े को इशारे पर नचाता है—जहाँ मोड़ना चाहे मोड़ लेता है और जहाँ रोकना चाहे रोक लेता है। आप भी अपने आप को, अपने मन को इस प्रकार साध लें कि मन को जहाँ मोड़ना चाहें, मोड़ लें और जहाँ

---

१. यतो-यतो मनो निवारये, न दुक्खमेति ततो-ततो।
स सब्बतो मनो निवारये, स सब्बतो दुक्खा पमुच्चति॥

२. न सब्बतो मनो निवारये, न मनो संयतत्तमागतं।
यतो-यतो च पापकं, ततो-ततो मनो निवारये॥

—संयुत्त निकाय, १,१,२३-२४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रोकना चाहें, रोक लें। फिर तो यह मन आपके लिए परेशानी की चीज नहीं, बल्कि बड़े आनन्द की चीज होगी।

एकाग्रता या पवित्रता :

अनेक जिज्ञासु व्यक्ति मन को एकाग्र करने की बात प्रायः मुझसे पूछते हैं। मैं कहा करता हूँ—मन को एकाग्र करना बहुत बड़ी बात नहीं है। आप जिसे अहम् सवाल या मुख्य प्रश्न कहते हैं, वह मन को एकाग्र करने का नहीं, बल्कि मन की पवित्रता का है। सिनेमा देखते हैं, तो वहाँ मन बड़ा स्थिर हो जाता है। खेल-कूद, गप-शप में समय का पता ही नहीं चलता, उसमें भी मन एकाग्र हो जाता है। फिर मन को एकाग्र करना कोई बड़ी बात हो, ऐसी बात नहीं है। सवाल है, मन को पवित्र कैसे किया जाए? मन यदि पवित्र एवं शुद्ध होता है, तो उसकी चंचलता में भी आनन्द आता है।

मन को छानिए :

पानी को छानकर पीने की बात जैनधर्मने बड़े जोर से कही है। यों तो **'वस्त्र पूतं पिबेज्जलम्'**[1] का सूत्र सर्वत्र मान्य है, पर इसी के साथ **'मनः पूतं समाचरेत्'** की बात भी कही गई है। मन को छानने की प्रक्रिया भी भारतीय धर्म में बतलाई गई है। मन को छानने से मतलब है, उसमें से असद्-विचारों का कूड़ा-कचरा निकाल कर उसे पवित्र बना लेना, उसे शुद्ध और निर्मल बना लेना। इसके लिए मन को मारने की जरूरत नहीं, साधने की जरूरत है। उसे शत्रु नहीं, मित्र बनाने की जरूरत है। सधा हुआ मन, जब चिन्तन-मनन, निदिध्यासन में जुड़ जाता है, फिर तो वह अपने आप सहज ही एकाग्र हो जाता है। फिर प्रयत्न करने की जरूरत नहीं पड़ती। केवल इशारा ही काफी है, दिशा-निर्देशन ही बहुत है। उसे पवित्र बना कर किसी भी रास्ते पर दौड़ा दीजिए, आप को आनन्द-ही-आनन्द आएगा, कष्ट का नाम भी नहीं होगा।

बिखरे मन की समस्याएँ :

बहुत बार सुना करता हूँ, लोग कहते हैं—"मन उखड़ा-उखड़ा-सा हो रहा है, मन कहीं लग नहीं रहा है, किसी बात में रस नहीं आ रहा है"—इसका मतलब क्या है? कभी-कभी मन बेचैन हो जाता है, तो आप लोग इधर-उधर घूमने निकल जाते हैं—चलो, मन को बहलाएँ। मतलब इसका यह हुआ, कि मन कहीं लग नहीं रहा है, इसलिए आप को बेचैनी है, परेशानी है। इधर-उधर घूम कर कैसे भी समय बिताना चाहते हैं।

एक सज्जन हैं, जिन्हें कभी-कभी रात को नींद नहीं आती है, तो बड़े परेशान होते हैं, खाट पर पड़े-पड़े करवटें बदलते रहते हैं, कभी बैठते हैं, कभी घूमते हैं, कभी लाइट जलाते हैं, कभी अंधेरा करते हैं। यह सब परेशानी इसलिए है कि नींद नहीं आती है और नींद इसलिए नहीं आती कि मन अशान्त है, उद्विग्न है। जिस मनको शान्ति नहीं मिलती, वह ऐसे ही करवटें बदलता रहता है, इधर-उधर भटकता फिरता है। परेशान और बेचैन दिखाई देता है। ये सब बिखरे मन की समस्याएँ हैं, मन की गाँठें हैं, जिन्हें खोले बिना, सुलझाए बिना चैन नहीं पड़ सकता।

काम में रस पैदा कीजिए :

प्रश्न यह है, मन की गाँठें कैसे खोलें? मन को नींद कैसे दिलाएँ? बिखरे हुए मन को शान्ति कैसे मिले? इसके लिए एक बड़ा सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत है।

---

१. दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं, वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतां वदेद्-वाचं, मनःपूतं समाचरेत्॥

—मनुस्मृति, अ.६, श्लोक ४६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैदिक-परम्परा में वाचस्पति मिश्र का बहुत ऊँचा स्थान है। वेदान्त के तो वे महान् आचार्य हो गए हैं, यों सभी विषयों में उनकी लेखनी चली है, वे सर्वतन्त्र स्वतन्त्र थे, उनकी कुछ मौलिक स्थापनाओं को आज भी चुनौती नहीं दी जा सकती है। उनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि वे विवाह से पूर्व ही वेदान्त-दर्शन के भाष्य पर टीका लिख रहे थे। विवाह हो गया, फिर भी वे अपने लेखन में ही डूबे रहे। रात-दिन उसी धुन में लगे रहे। संध्या होते ही पत्नी आती, दीपक जला जाती और वे अपने लिखने में लगे रहते। एक बार तेल समाप्त होने पर दीपक बुझ गया, अंधेरा हो गया, तो लेखनी रुकी। पत्नी आई और तेल डाल कर दीपक फिर से जलाने लगी। तब वाचस्पति ने आँखे उठा कर प्रज्वलित दीपक के प्रकाश में पत्नी की ओर देखा। देखने पर पाया कि पत्नी का यौवन ढ़ल चुका था, काले केश सफेद होने जा रहे थे। वाचस्पति मिश्र सहसा बोल उठे—"अरे! यह क्या? मुझे तो, ध्यान ही नहीं रहा कि मेरा विवाह हो गया है और तुम तो बूढ़ी भी हो गई।"

सोचिए, यह कैसी बात है? आप कहते हैं, काम में मन नहीं लगता है। और, एक वाचस्पति मिश्र थे कि यौवन बीत गया, पर उन्हें पता भी नहीं रहा कि विवाह किया भी है या नहीं? यह बात और कुछ नहीं, कर्म में आनन्द की बात है, रस की बात है। अपने कर्म में उसे इतना आनन्द आया कि वह तल्लीन हो गया। मन में रस जगा कि वह कर्म के साथ एकाकार हो गया। फिर न कोई विकल्प, न कोई तनाव, न कोई चंचलता, और न किसी तरह की थकावट।

इंग्लैन्ड के एक डॉक्टर के सम्बन्ध में कहा जाता है, कि वह जन-हित के लिए जीवन भर किसी महत्त्वपूर्ण शोध में लगा रहा। बुढ़ापे में किसी एक मित्र ने पूछा—"आपके संतान कितनी है?"

डॉक्टर ने बड़ी संजीदगी से कहा—"मित्र! तुमने भी क्या खूब याद दिलाई। मुझे तो कभी शादी करने की याद ही नहीं आई।"

ये बातें मजाक नहीं हैं, जीवन के मूलभूत सत्य हैं। जिन्हें अपने काम में आनन्द आ जाता है, उन्हें चाहे जितना भी काम हो, थकावट महसूस नहीं होती। समय बीतता जाता है, पर उन्हें पता नहीं चलता। जीवन में वे कभी उद्विग्नता, विक्षिप्तता का अनुभव नहीं करते, उनका मन विकल्पों से परेशान होकर कभी करवटें नहीं बदलता। आपको मालूम होना चाहिए कि मन में विकल्प, थकावट, बेचैनी, ऊब तभी आती है, जब कर्म में रस नहीं आता। इन विकल्पों को भगाने के लिए, और कोई साधना नहीं है, सिवा इसके कि मन को किसी अच्छे निर्धारित कर्म के रस में डुबो दिया जाए।

रस का स्रोत : श्रद्धा

जैन-आगमों में रत्न-त्रय की चर्चा आती है—दर्शन, ज्ञान और चारित्र। दर्शन सबसे पहला रत्न है, वह साधना की मुख्य आधार-भूमि है। दर्शन का अर्थ है—श्रद्धा-निष्ठा। श्रद्धा मन को रस देती है, साधना में आनन्द जगाती है। आप कुछ भी कर रहे हैं, उस कर्म में आप की श्रद्धा है, तो उसमें आप को अवश्य रस मिलेगा, अवश्य आनन्द आएगा। कर्म करते हुए आपका मन मुरझाया हुआ नहीं रहेगा, प्रफुल्लित हो उठेगा। क्योंकि श्रद्धा रस का स्रोत है, आनन्द का उत्स है।

अतः मेरे दृष्टिकोण से कर्म से पहले, कर्म के प्रति श्रद्धा जगनी चाहिए। यदि मैं आपसे पूछूं—"अहिंसा पहले होनी चाहिए या अहिंसा के प्रति श्रद्धा पहले होनी चाहिए? सत्य पहले हो या सत्य के प्रति श्रद्धा पहले हो? तो आप क्या उत्तर देंगे?" बात अचकचाने की नहीं है और हमारे लिए तो बिल्कुल नहीं, चूंकि यहाँ तो पहला पाठ श्रद्धा का ही पढ़ाया जाता है। स्पष्ट है कि अहिंसा, तभी अहिंसा है, जब उसमें श्रद्धा है। सत्य, तभी सत्य है, जब उसमें श्रद्धा-निष्ठा है। यदि श्रद्धा नहीं है, तो अहिंसा हिंसा हो जाती है। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि यदि अहिंसा में श्रद्धा-निष्ठा नहीं है, तो वह अहिंसा एक पॉलिसी या कूटनीति हो सकती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, परन्तु वह जीवन का सिद्धान्त एवं आदर्श कभी नहीं बन सकती। श्रद्धा के बिना अहिंसा और सत्य आदि की साधना कदापि नहीं हो सकती। गांधीजी कष्ट एवं संकट के झंझावातों में, जेल के सीकचों में भी आनन्द अनुभव करते थे, मुस्कराते रहते थे। वह आनन्द उन्हें कहाँ से प्राप्त होता था? बाहर से या भीतर से? भीतर में जो आनन्द का अमृत सरोवर था, वह श्रद्धा ही थी। अहिंसा-सत्य की श्रद्धा थी, इसलिए वे संकट के क्षणों में भी अपनी साधना से आनन्द की अनुभूति करते थे। इसलिए मैंने आपसे कहा—"श्रद्धा हमारे जीवन में रस का स्रोत है, आनन्द का उत्स है।"

मित्र और भगवान् है, श्रद्धा :

आप जीवन में किसी को मित्र बनाते हैं और फिर उस मैत्री का आनन्द प्राप्त करते हैं। मित्र बनाने का अर्थ क्या है? आप मित्र कहे जानेवाले व्यक्ति में अपना विश्वास स्थिर करते हैं, उस मैत्री भाव के भीतर श्रद्धा का रस संचार करते हैं और फिर उस विश्वास-श्रद्धा का आनन्द लेते हैं, प्रसन्नता प्राप्त करते हैं। पति-पत्नी क्या हैं? केवल दैहिक सम्बन्ध ही पति-पत्नी नहीं है। पति-पत्नी (दाम्पत्य जीवन) एक भाव है, एक विश्वास है, एक श्रद्धा है। पहले एक-दूसरे में विश्वास स्थापित किया जाता है, श्रद्धा का रस एक-दूसरे के हृदय में डाला जाता है, और फिर उससे आनन्द-उल्लास प्राप्त किया जाता है। गुरु और शिष्य, भक्त और भगवान् के सम्बन्ध में भी और कुछ नहीं, केवल एक भाव है। श्रद्धा है, तो गुरु है। भाव है, तो भगवान् है। **'भावे हि विद्यते देवः'**—भाव में ही भगवान् है। यदि भाव नहीं है, तो भगवान् कहीं नहीं है।

ईश्वर के लिए, ब्रह्म के लिए जब जिज्ञासा उठी—वह क्या है? तो उत्तर मिला—**"रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽनन्दी भवति"**[1] —वह ईश्वर रसरूप है। तभी तो मनुष्य जहाँ कहीं रस पाता है, तो उसमें निमग्न हो जाता है, आनन्द-स्वरूप हो जाता है।

मन को रस दीजिए :

मेरा अभिप्राय यह है कि कर्म में पहले रस जागृत होना चाहिए। सत्कर्म में जब रस जगता है, तो आनन्द की उपलब्धि होती है और तब भगवज्ज्योति के दर्शन होने लगते हैं। फिर प्रत्येक सत्कर्म, भक्ति एवं उपासना का रूप ले लेता है, आनन्द का स्रोत बन जाता है, जिससे निरन्तर हमारा मन अक्षय आनन्द प्राप्त करता रहता है।

मन को बिना रस दिए यदि कोई चाहे कि उसे किसी कार्य में लगा दें, तो यह संभव नहीं है। मधु-मक्षिका को जब रस मिलेगा, तो वह फूलों पर आएगी, मंडराएगी। यदि रस नहीं मिलेगा, तो आप कितना ही निमन्त्रण दीजिए, वह नहीं आएगी।

मधु-मक्षिका की बात हम पहले से कहते आए हैं। पर, राजगृह के चातुर्मास (सन् १९६२) में मैंने इसे बहुत निकट से और बारीकी से देखा। हम प्रायः वैभारगिरि पर्वत पर ध्यान-साधना हेतु वेणु-वन में से हो कर जाते थे। वेणु-वन भगवान् महावीर एवं बुद्ध के युग में बांसों का एक विशाल जंगल था और अब उसे फूलों का बगीचा बना दिया गया है। हाँ, प्राचीन इतिहास की कड़ी को जोड़े रखने के लिए, अब भी उसे वेणु-वन ही कहते हैं, और नाम की सार्थकता के लिए सौ-दो सौ बाँस भी लगा रखे हैं। मैंने वहाँ देखा, मधु-मक्खियाँ पहले फूलों पर ऊपर-ऊपर उड़ती हैं, गुनगुनाती हैं, रस खोजती हैं, फिर किसी फूल पर जाकर बैठती हैं। और, जब रस मिलने लगता है, तो बिल्कुल मौन, शान्त! ऐसा लगता है कि मधु-मक्खी फूल के भीतर लीन-विलीन होती जा रही है, बिल्कुल निष्पन्द, निश्चेष्ट।

हमारा मन भी एक तरह से मधु-मक्षिका ही है। इसे सत्कर्म के फूलों में जब तक रस नहीं मिलेगा, तब तक वह उनके ऊपर-ही-ऊपर मंडराता रहेगा, गुनगुनाता रहेगा। किन्तु,

---

१. तैत्तिरीय उपनिषद्, २,७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जब रस मिलेगा, तब उसकी सब गुन-गुनाहट बन्द हो जाएगी, वह सत्कर्म में लीन होता चला जाएगा, एक रस, एकात्मा बन जाएगा। समस्त विकल्प समाप्त हो जाएँगे और आनन्द का अक्षय-सागर लहरा उठेगा।

विकल्पों को एक साथ मिटाएँ :

साधक के सामने कभी-कभी एक समस्या आती है—वह विकल्पों से लड़ने का प्रयत्न करते-करते कभी-कभी उनमें और अधिक उलझ जाता है। वह एक विकल्प को मिटाने जाता हैं, तो दूसरे हजार विकल्प खड़े हो जाते हैं और इस तरह साधक इस संघर्ष में विजयी बनने की जगह पराजित हो जाता है। वह निराश हो जाता है और उसे साधना नीरस प्रतीत होने लगती है। मैंने प्रारम्भ में कहा है—"मन के साथ झगड़ने का तरीका गलत है। संघर्ष करके मन को कभी वश में नहीं किया जा सकता, विकल्पों का कभी अन्त नहीं किया जा सकता।" कल्पना कीजिए—खेत में धान के पौधे लहलहा रहे हैं और उन पर पक्षी आ रहे हैं, तो उन्हें एक-एक करके यदि उड़ाने का प्रयत्न हो, तो कब तक उड़ाया जा सकता है? यदि एक चिड़िया को उड़ाने गए, तो पीछे दस चिड़ियाँ आ जाएँगी। उन्हें तो किसी एक धमाके से ही उड़ाना होगा और वह भी एक साथ उड़ाना होगा।

यह मन, एक विशाल वट-वृक्ष है। इस पर काम, क्रोध, मोह, माया अहंकाररूपी विकल्पों की असंख्य-असंख्य चिड़ियाँ बैठी हैं। यदि उन्हें हम एक-एक कर उड़ाने का प्रयत्न करते रहें, तो वे कभी भी उड़ नहीं सकेंगी। उनके लिए तो बन्दूक का एक धमाका ही करना पड़ेगा कि सब एक साथ उड़ जाएँ। धमाके की बात, मन को रस में डुबो देने की बात है। यदि मन रस में डूब जाता है, तो विकल्प समाप्त हो जाते हैं और वह भी एक ही साथ।

जीवन में यदि आप दान देते हैं, सेवा करते हैं, अध्ययन करते हैं या और कुछ भी सत्कर्म करते हैं, तो उसमें आनन्द प्राप्त करने का प्रयत्न कीजिए। आनन्द तब मिलेगा, जब उसमें आपकी श्रद्धा होगी, आपके मन में उस सत्कर्म के प्रति रस होगा। जिसे आप गहरी दिलचस्पी कहते हैं, वह रस ही तो है। जब रस उमड़ पड़ेगा, तो न विकल्पों का डर रहेगा, न मन की चंचलता की शिकायत रहेगी। तन अपने आप सत्कर्म में लग जाएगा और उसके आनन्द में विभोर हो उठेगा। फिर न किसी प्रेरणा की अपेक्षा रहेगी, न उपदेश की। बस, अपने आप सब अपेक्षाएँ पूर्ण होती जाएँगी। और, आप जीवन में अपार आनन्द एवं शान्ति का अनुभव करने लगेंगे। कहा भी है—"यह जाना गया कि आनन्द ही ब्रह्म है। आनन्द से ही सब भूत उत्पन्न होते हैं, आनन्द से ही जीवित रहते हैं और अन्त में आनन्द में ही विलीन हो जाते हैं।"[१]

★

१. आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।
आनन्दाद्ध्येव खलु इमानि भूतानि जायन्ते,
आन्देन जातानि जीवन्ति,
आनन्दं प्रयन्ति, अभिसंविशन्तीति। —तैत्तिरीय उपनिषद्, ३,६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org